

योग दर्शन में आत्मा का स्वरूप: एक दार्शनिक विवेचन

राकेश कवचे

प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा, मध्य प्रदेश, भारत

सारांश

योग दर्शन में जड़ जगत् का उपादान कारण जड़ प्रकृति को स्वीकार किया गया है। इस अचेतन जगत् का कारण अचेतन प्रकृति है। योग दर्शन में प्रकृति के प्रधान गुणों में त्रिगुण, अलिंगन आदि को अपर नाम से जाना जाता है। इस प्रकार से योग दर्शन में इसका दूसरा नाम दृश्य जगत् भी है।¹ इस तरह से दृश्य जगत् का प्रयोग वृद्धि के लिए भी होता रहा है। यही प्रकृति प्रदत्त वेदान्त आदि अन्य दर्शनों में माया, अविद्या, अणु आदि नामों से प्रमाण मिलता है।² फिर भी यह प्रपंच पूर्ण अविद्या का कारण माना गया है। विशेष रूप से प्रकृति का कोई कारण नहीं होता है। योग दर्शन में विभिन्न प्रकार की गतिविधियों को सभी मार्गों के अभ्यासों का वर्णन करना होता है। इस प्रकार से साधक को स्वयं के अन्तिम और मध्य के मार्ग को प्राप्त करना पड़ता है। एक साधक योग की क्रिया-विधि के द्वारा किसी साधना विधि का आत्मिक रूप से विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार से समाज में योग की भूमिका महत्वपूर्ण होती जा रही है। इस शोध पत्र में द्वितीय शोध सामाग्री के रूप में अध्ययन किया गया है। इसमें ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से अध्ययन का आधार बनाया गया है।

मूल शब्द: योग दर्शन, आत्मा का स्वरूप, दार्शनिक विवेचन

प्रस्तावना

योग दर्शन व्यक्ति के मानसिक और शारीरिक विकास हेतु आवश्यक साधन मार्ग है। इस हेतु योग दर्शन की वर्तमान में प्रासंगिकता है। योग दर्शन मन को स्वस्थ करता है और शरीर के सौन्दर्य को विकसित करने में ये क्रिया-विधि अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार यह साधन मार्ग भी है। इससे व्यक्ति योग साधना के मार्ग से ईश्वर की अस्था तक पहुँचता है।

समस्या

ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी प्रमाण को योग दर्शन में स्वीकार किया गया है। जो योग दर्शन के लिए एक आवश्यक आयाम प्रस्तुत करता है। यही मूल गुणों के कारण त्रिगुणात्मक सत्य है। सत्व, रज और तम ये तीन गुण विद्यमान हैं। इसी कारण इन गुणों के संयोग से प्रकृति का निर्माण होता है। फिर भी इन तीनों गुणों से पृथक् करने के उपरान्त प्रकृति को नहीं देखा जा सकता। यहाँ तक तीनों गुणों के अतिरिक्त प्रकृति का कोई भी पृथक् अस्तित्व नहीं है। महर्षि वेदव्यास ने गुणों के प्रधान शब्दों को वाच्य के रूप में प्रतिपादित किया है।³

समाधान

आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार दोनों वादों में सामान्य रूपों से गुण विद्यमान हो जाते हैं। उन्होंने भामती टीका में कहा है कि आत्मा के एक होने पर भी उन बुद्धि-भेदों के कारण अलग-अलग प्रतीत होने लगता है। इसके अतिरिक्त मुक्त होने पर भी बद्ध जैसा प्रतीत होता है, क्योंकि अविद्या को स्वीकार करने वाला सांख्य की प्रधानता के कारण वह सर्व जीवों में उसे एक नहीं कहा जा सकता है। वह तो अनेक है। इसे ही बद्ध मुक्त जीव की अवस्था कहा जा सकता है। जहाँ प्रत्येक जीव में अविद्या के मूल भेद औपाधिक रूपों में विद्यमान रहता है। फिर भी मान ले कि किसी भी प्रकार की असंगति नहीं होगी, तब ऐसा कार्य मूल स्वरूपों में परिवर्तन होता है।⁴ फिर भी एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जहाँ नानात्व रूपी अविद्या में अध्यस्त हो। वहाँ इस प्रकार के जीव अविद्या से कल्पित दिखाई पड़ते हैं।

यहाँ तक यह भी व्यावहारिक रूप से न एक जीव है और न ही अनेक जीवों में विद्यमान है। फिर भी एक मात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। नानात्व, एकत्व और नाना जीवों के जीववाद, में एक जीववाद मात्र कला-कौशल के रूप में बचता है।

वस्तुतः ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु उसके साधन मार्ग की विवेचना करने के उपरान्त ही उसे ज्ञान प्राप्ति के साधन तक पहुँचाया जा सकता है। यहाँ तक अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्ति को समझना चाहिए। मुक्ति इस मत का उत्पाद विषय नहीं है, न ही संस्कार ही है। इस प्रकार के प्रमाण को मानने से मुक्ति अनित्य हो जायेगी।⁵

इसीलिए अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति पर विशेष चिन्तन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्म के रूप में जीवन्मुक्ति का वर्णन किया गया है, जिसका समर्थन पूर्णतः शंकराचार्य ने किया है। यहाँ तक विदेह-मुक्ति ब्रह्म निर्वाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार से शंकराचार्य के द्वारा जीवन्मुक्ति एवं विदेह मुक्ति, दोनों अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है।⁶

श्रीमद्भगवद्गीता में भी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की व्याख्या मिलती है।⁷ अद्वैतसिद्धि द्वारा जीवन्मुक्ति और तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर भी पूर्व संस्कार निर्मित होते हैं। इन्हीं कारणों से मुक्त पुरुष की शरीर की स्थिति स्वतः बनी रहती है। इस प्रकार से मुक्त पुरुष प्रारब्ध कर्म के बारे में ज्ञान को अर्जित करता है। वहीं पूर्ण रूप से अपने शरीर को धारण करता है।⁸ ज्ञान होने पर वह ज्ञानरूपी अग्नि को प्रारब्ध कर्मों के बन्धन को छोड़कर सभी कर्मों को नष्ट कर देता है। जब तक प्रारब्ध कर्मफल से निवृत्ति होने पर उसके मूल स्वरूप दिखाई देने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप दुष्प्रवृत्तियों को नष्ट करने हेतु शरीर को भोग करना पड़ता है।⁹

जीवन्मुक्त का प्रारब्ध कर्मों के आधार पर शरीर को धारण करना है। प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर भोग द्वारा होने वाले विदेह-मुक्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार शंकराचार्य द्वारा जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति दोनों को स्वीकृत प्राप्त है। जहाँ पर ज्ञानोदय के बाद शरीर चलता रहता है। इसी के परिणाम स्वरूप

मानव का शरीर कुछ समय तक चलता रहता है।¹⁰ कुछ व्यक्ति इसी को जीवन्मुक्ति के रूप में स्वीकार किया है।¹¹ अविद्या की निवृत्ति को ही ब्रह्म का सिद्धि कहा गया है। यहाँ पर इसका वर्णन आत्मस्वरूप में समझा गया है।¹² उससे अविद्या निवृत्ति को सत् से भिन्न, सदसत् और अनिर्वचनीय माना गया है। फिर भी उसके अतिरिक्त कुछ नहीं बचता है। इसे कुछ लोग विद्या के निवृत्ति को अविद्या के समान अनिर्वचनीय स्वीकार करते हैं। इस प्रकार से वह पूर्णरूप से अद्वैत के अनुसार अभाव अधिकरण के स्वरूप में सामिल हो जाता है। इसलिए अविद्या-निवृत्ति भी ब्रह्म के स्वरूप में स्थिति हो जाती है। यहाँ तक उनके अनिर्वचनीय अविद्या की निवृत्ति भी वस्तुतः ब्रह्मभिन्न मानी गई है। यहाँ तक इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार बन्धन अज्ञान का कारण बनता है। अज्ञान अनादि है और अनन्त भी माना गया है। फिर भी अज्ञान के नाश होने पर प्रारब्ध कर्म के अनुसार कुछ समय तक शरीर के चलने से जीवन्मुक्ति के प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं? जहाँ तक जीव न बन्धन में फँसता है और न ही मुक्त होता है, वह तो शुद्ध चेतन है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता धर्ता आदिकालीक हो उससे उत्पन्न ब्रह्म आदि देवों के समान माना गया है। यहाँ तक वह काल से भी अविच्छन्न नहीं होता है। फिर भी ईश्वर हमेशा सर्वदा विद्यमान रहता है। उन्हें वेदादि का ज्ञान है। योग दर्शन में पुरुष के वास्तविक स्वरूप का औपधिक रूप से वर्णन किया गया है। यहाँ जीव एवं पुरुष दोनों में आत्मा के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है। पुरुष मूल रूप से ज्ञान के स्वरूप में विद्यमान है। यह पुरुष का वास्तविक स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार के पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदि माना गया है। उसे मूल रूप से औपधिक स्वरूप में वर्णन किया गया है। किसी भी ज्ञान की वृद्धि हेतु मानव की बौद्धिक चिन्तन का प्रबोध होना आवश्यक है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि बुद्धि से ज्ञान और अज्ञान की विचारधाराओं का पता चलता है। यहाँ तक बुद्धि को ज्ञान का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, वह तो ज्ञान बुद्धि का धर्म है।¹³ बुद्धि से भिन्न दृष्टा पुरुष ज्ञान का मूल कारण है। इस प्रकार से ये दो विशेषण पुरुष के वास्तविक और औपधिक चिन्तन का बोध कराता है। इसका उदाहरण आचार्य विज्ञानभिक्षु के उद्धरण द्वारा आत्मा के ज्ञान स्वरूपों की पुष्टि की जाती है। यहाँ तक महर्षि कपिल ने सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों की समान अवस्था होने से प्रकृति का मूल स्वरूप स्पष्ट होता है।¹⁴ यहाँ तक साम्यावस्था का अर्थ है – सात्विक गुणों का सर्गोन्मुख नहीं होना। उपादान तत्व कारणों के रूप में अवस्थित है। उस अवस्था को मूल रूपों में साम्यावस्था का परिणाम है। उससे योग दर्शन में ईश्वर के प्रति आस्था का विषय बना हुआ है। इस प्रकार से प्रकृति की अवस्था जगत् के प्रलयकाल में ही संभव थी। सर्गकाल में सात्विक गुणों में साम्यावस्था के रहने के उपरान्त ही वैषम्य हो जाता है। इस संसार के वैचित्र्य का प्रमाण हेतु को माना गया है। इस प्रकार सांख्य और योग दर्शन में प्रकृति के स्वरूप का एक जैसा ही वर्णन किया गया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार से दार्शनिक चिन्तकों ने दृश्य के परिणाम को मुख्य रूप के दृष्टान्त के रूप में प्रतिबिम्बित किया है। इससे पुरुष घटादि विषयकार से परिणत होकर स्वयं में प्रतिसंवेदी बन जाता है।¹⁵ इस प्रकार से योग दर्शन में बुद्धि को ही सत्त्वगुण प्रधान स्वीकार किया गया है। सत्त्वगुणों की प्रधानता में होने वाली विचारधाराओं में ऐसे प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। इस तरह से दर्पण में मुख देखने वाला व्यक्ति का दर्पणगत मलिनता के स्वरूप में विद्यमान होता है। इससे व्यक्ति की सामाजिक अवस्था में होने के कारण ईश्वर की आस्था में विश्वास करता है, क्योंकि यह उसके

जीवन में परम्परा से जुड़ा हुआ है। यहाँ तक ईश्वर ने सब कुछ मानव के लिए ही उत्पन्न किया है। उसका सदुपयोग वह कैसे करेगा। यह कोई नहीं जानता है। जहाँ तक सदगुणों की पूजा लोग करते हैं। जब वह व्यक्ति दुःखी होता है। उसमें बुद्धिमान पुरुष संसारिक वस्तुओं को अपना समझकर दुःखी होने लगता है। जैसे – 'मैं घट को जानता हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं सूखी हूँ', यह मैं सोचता हूँ। इस प्रकार से परिवर्तन के रूप में जीवन स्वयं उसका दृष्टान्त बनता है। इस रीति-रिवाज से पुरुष विषयाकार और बुद्धि का प्रति संवेदी होता है। किसी न किसी रूप में ईश्वर की आस्था पर विश्वास करता है, क्योंकि वह किसको किस रूप में पूजा करता है। यह उसका आन्तरिक पक्ष सबलता से उसकी मदद करता है।

सन्दर्भ

1. योग वशिष्ट, 213
2. व्यास भाष्य, 2/26
3. योग सूत्र, 2/18
4. भामती प्रस्थान परीक्षा, पृष्ठ 407.
5. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृष्ठ 125
6. शांकर भाष्य, 2/72,
7. भगवद्गीता, 2/56
8. अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ 890
9. शांकर भाष्य, 4/37 एवं ब्रह्मसूत्र 4/1/15, 4/1/19
10. ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ 131.
11. ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ 132.
12. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृष्ठ 514.
13. योग सूत्र, 2/20
14. योग वार्तिक, पृष्ठ 197
15. सांख्य कारिका, 23